(१)

गीताके अनुसार जीवन्मुक्तका स्वरूप

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन ।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः ॥
(गीता ६ । ३२)

'हे अर्जुन ! जो योगी (जीवन्मुक्त) अपनी सादृश्यतासे सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है ।'

गीताके अनुसार जीवन्मुक्त वही है, जिसका सर्वदा सर्वथा सर्वत्र सम भाव है । जहाँ जहाँपर मुक्त पुरुषका गीतामें वर्णन है, वहां समताका ही उल्लेख पाया जाता है । गीताके अनुसार जिसमें समता है वही स्थितप्रज्ञ, ज्ञानी, गुणातीत, भक्त और जीवन्मुक्त है । ऐसे जीवन्मुक्तमें रागद्वेषरूपी विकारोंका अत्यन्त अभाव होता है मान-अपमान, हानि-लाभ, जय-पराजय, शत्रु-मित्र, निन्दा-स्तुति आदि समस्त द्वन्द्वोंमें वह समतायुक्त रहता है । अनुकूल या प्रतिकूल परिस्थिति अथवा घटना उसके ब्रह्मभूत हृदयमें किसी प्रकारका भी विकार उत्पन्न नहीं कर सकती । किसी भी कालमें किसीके साथ किसी प्रकारसे भी उसकी साम्य-स्थितिमें परिवर्तन नहीं होता । निन्दा करनेवालेके प्रति उसकी द्वेष या वैर-बुद्धि और स्तुति करनेवालेके प्रति राग या प्रेम-बुद्धि

नहीं होती। दोनोंमें समान वृत्ति रहती है। मूढ़ अज्ञानी मनुष्य ही निन्दा सुनकर दुखी और स्तुति सुनकर सुखी हुआ करते हैं। सात्त्विक पुरुष निन्दा सुनकर सावधान और स्तुति सुनकर लज्जित होते हैं। पर जीवन्मुक्तका अन्तःकरण इन दोनों भावोंसे शून्य रहता है, क्योंकि उसकी दृष्टिमें एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके अतिरिक्त अपनी भी भिन्न सत्ता नहीं रहती, तब निन्दा-स्तुतिमें उसकी भेदबुद्धि कैसे हो सकती है? वह तो सबको एक परमात्माका ही स्वरूप समझता है।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा॥
(१३।३०)

'जिस समय यह पुरुष भूतोंके पृथक् पृथक् भावोंको एक परमात्माके सङ्कल्पके आधारपर स्थित देखता है तथा उस परमात्माके सङ्कल्पसे ही सम्पूर्ण भूतोंका विस्तार देखता है उस समय वह सच्चिदानन्दघन ब्रह्मको ही प्राप्त होता है।' इसलिये उसकी बुद्धिमें एक परमात्माके सिवा अन्य कुछ रह ही नहीं जाता। लोकसंग्रह और शास्त्रमर्यादाके लिये सबके साथ यथायोग्य बर्ताव करते हुए भी, व्यवहारमें बड़ी विषमता प्रतीत होनेपर भी उसकी समबुद्धिमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। इसीसे भगवान्‌ने कहा है—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनी।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
(५।१८)

'वे ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी समभावसे देखनेवाले ही होते हैं।' इस श्लोकसे व्यवहारका भेद स्पष्ट है। यदि केवल मनुष्योंकी ही बात होती तो व्यवहार-भेदका खण्डन भी किसी तरह खींचतान कर किया जा सकता, परन्तु इसमें तो ब्राह्मणादिके साथ कुत्ते आदि पशुओंका भी समावेश है। कोई भी विवेकसम्पन्न पुरुष इस श्लोकमें कथित पाँचों प्राणियोंके साथ व्यवहारमें समताका प्रतिपादन नहीं कर सकता। मनुष्य और पशुकी बात तो अलग रही, इन तीनों पशुओंमें भी व्यवहारकी बड़ी भारी भिन्नता है। हाथीका काम कुत्तेसे नहीं निकलता। गौकी जगह कुतिया नहीं रक्खी जाती। जो लोग इस श्लोकसे व्यवहारमें अभेद सिद्ध करना चाहते हैं, वे वस्तुतः इसका मर्म नहीं समझते। इस श्लोकमें तो समदर्शी जीवन्मुक्तकी आध्यात्मिक स्थिति बतलानेके लिये ऐसे पाँच जीवोंका उल्लेख किया गया है जिनमें व्यवहारमें बड़ा भारी भेद है और इस भेदके रहते भी ज्ञानी सबमें उपाधियोंके दोषसे रहित सम ब्रह्मको देखता है। यद्यपि उसकी दृष्टिमें किसी देश, काल, पात्र या पदार्थमें कोई भेदबुद्धि नहीं होती, तथापि वह व्यवहारमें शास्त्रकी मर्यादाके अनुसार भेद-बुद्धिवालोंको विपरीत मार्गसे बचानेके लिये आसक्तिरहित होकर उन्हींकी भाँति न्याययुक्त व्यवहार करता है (गीता ३ । २५-२६) क्योंकि

श्रेष्ठ पुरुषोंके आदर्शको सामने रखकर ही अन्य लोग व्यवहार किया करते हैं—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥
(३ । २१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उस उसके ही अनुसार वर्तते हैं, वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, अन्य लोग भी उसीके अनुसार वर्तते हैं ।'

वास्तवमें जीवन्मुक्त पुरुषके लिये कोई कर्तव्याकर्तव्य या विधिनिषेध नहीं है, तथापि लोकसंग्रहार्थ, मुक्तिकामी पुरुषोंको असत्-मार्गसे बचानेके लिये जीवन्मुक्तके अन्तःकरणद्वारा कर्मोंकी स्वाभाविक चेष्टा हुआ करती है । उसका सबके प्रति समान सहज प्रेम रहता है । सबमें समान आत्मबुद्धि रहती है । इस प्रकारके समतामें स्थित हुए पुरुष जीते हुए ही मुक्त हैं । उनकी स्थिति बतलाते हुए भगवान् कहते हैं—

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥
(५ । २०)

जो पुरुष प्रियको अर्थात् जिसको लोग प्रिय समझते हैं, उसको प्राप्त होकर हर्षित न हो और अप्रियको अर्थात् जिसको

लोग अप्रिय समझते हैं उसको प्राप्त होकर उद्वेगवान् न हो, ऐसा स्थिरबुद्धि संशयरहित ब्रह्मवेत्ता पुरुष सच्चिदानन्दघन परमात्मामें एकीभावसे नित्य स्थित है।' सुख-दुःख, अहन्ता, ममता आदिके नातेसे भी वह सबमें समबुद्धि रहता है। अज्ञानीका जैसे व्यष्टि-शरीरमें आत्मभाव है, वैसे ही ज्ञानीका समष्टिरूप समस्त संसारमें है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उसे दूसरेके दर्दका दर्दके रूपमें ही अनुभव होता है। एक अंगुलीके कटनेका अनुभव दूसरी अंगुलीको नहीं हो सकता, परन्तु जैसे दोनोंका ही अनुभव आत्माको होता है, इसीप्रकार ज्ञानीका आत्मरूपसे सबमें समभाव है। यदि ब्राह्मण, चाण्डाल और गौ, हाथी आदिके बाह्य शारीरिक खानपान आदिमें समान व्यवहार करनेको ही समताका आदर्श समझा जाय तो यह आदर्श तो बहुत सहजमें ही हो सकता है। फिर भेदाभेदरहित आचरण करनेवाले पशुमात्रको ही जीवन्मुक्त समझना चाहिये। आचाररहित मनुष्य और पशु तो सबके साथ स्वाभाविक ही ऐसा व्यवहार करते हैं और करना चाहते हैं, कहीं रुकते हैं तो भयसे रुकते हैं। पर इस समवर्तनका नाम ज्ञान नहीं है। आजकल कुछ लोग सिद्धान्तकी दृष्टिसे भी समवर्तनके व्यवहारकी व्यर्थ चेष्टा करते हैं, परन्तु उनमें जीवन्मुक्तिके कोई लक्षण नहीं देखे जाते। अतएव गीताके समदर्शनका सबके साथ समवर्तन करनेका अभिप्राय समझना अर्थका अनर्थ करना है। ऐसी

जीवन्मुक्ति तो प्रत्येक मनुष्य सहजमें ही प्राप्त कर सकता है। जिस जीवन्मुक्तिकी शास्त्रोंमें इतनी महिमा गायी गयी है और जिस स्थितिको प्राप्त करना महान् कठिन माना जाता है, वह क्या इतनेसे उच्छृङ्खल समवर्तनसे ही प्राप्त हो जाती है ? वास्तवमें समदर्शन ही यथार्थ ज्ञान है। समवर्तनका कोई महत्त्व नहीं है। यह तो मामूली क्रियासाध्य बात है, जो जङ्गली मनुष्यों तथा पशुओंमें प्रायः पायी जाती है।

गीताके समदर्शनका यह अभिप्राय कदापि नहीं है। शत्रु-मित्र, मान-अपमान, जय पराजय, निन्दा-स्तुति आदि समदर्शन करना ही यथार्थ समता है।

यह समता ही एकता है। यही परमेश्वरका स्वरूप है। इसमें स्थित हो जानेका नाम ही ब्राह्मीस्थिति है। जिसकी इसमें गाढ़ स्थिति होती है उसके हृदयमें सात्त्विकी, राजसी, तामसी किसी भी कार्यके आने जानेपर किसी भी कालमें कभी हर्ष-शोक और राग-द्वेषका विकार नहीं होता। इस समबुद्धिके कारण वह अपनी स्थितिसे कभी विचलित नहीं होता। इसीसे उस धीर पुरुषको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। किसी भी गुणके कार्यसे वह विकार-को प्राप्त नहीं होता, इसीसे वह गुणातीत है, एक ज्ञानस्वरूप परमात्मामें नित्य स्थित है, इसीसे वह ज्ञानी है। परमात्मा वासुदेव-के सिवा कहीं कुछ भी नहीं देखता, इसीसे वह भक्त है। उसे कोई

कर्म कभी बाँध नहीं सकते इसीसे वह जीवन्मुक्त है। इच्छा, भय और क्रोधका उसमें अत्यन्त अभाव हो जाता है। वह मुक्त पुरुष लोकदृष्टिमें सब प्रकार योग्य आचरण करता हुआ प्रतीत होनेपर भी, उसके कार्योंमें अज्ञानी मनुष्योंको भेदकी प्रतीति होनेपर भी, वह विज्ञानानन्दघन परमात्मामें तद्रुप हुआ उसीमें एकीभावसे सदा सर्वदा स्थित रहता है। उसका वह आनन्द नित्य शुद्ध और बोधस्वरूप है, सबसे विलक्षण है। लौकिक बुद्धिसे उसका अनुमान भी नहीं किया जा सकता।

(२)

जीव, ईश्वर और ब्रह्मका भेद

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः॥
(गी० १३। २२)

'वास्तवमें यह पुरुष देहमें स्थित हुआ भी पर (त्रिगुणमयी मायासे सर्वथा अतीत) ही है। केवल साक्षी होनेसे उपद्रष्टा, यथार्थ सम्मति देनेवाला होनेसे अनुमन्ता, सबको धारण करनेवाला होनेसे भर्ता, जीवरूपसे भोक्ता, ब्रह्मादिका भी स्वामी होनेसे महेश्वर और शुद्ध सच्चिदानन्दघन होनेसे परमात्मा है, ऐसा कहा गया है।'

पण्डितजन कहते हैं कि गीताके सिद्धान्तानुसार ब्रह्म,

ईश्वर और जीवमें कोई भेद नहीं है। उपर्युक्त श्लोकसे यह स्पष्ट है कि यह परपुरुष परमात्मा ही भोगनेके समय जीव, सृष्टिकी उत्पत्ति, पालन और संहारके समय ईश्वर और निर्विकार अवस्थामें ब्रह्म कहा जाता है। इस श्लोकमें भोक्ता शब्द जीवका ? उपद्रष्टा, अनुमन्ता, भर्ता और महेश्वर शब्द ईश्वरके एवं परमात्मा शुद्ध ब्रह्मका वाचक है। परमपुरुषके विशेषण होनेसे सब उसीके रूप हैं। इन्हीं तीनों रूपोंका वर्णन आठवें अध्यायके आरम्भमें अर्जुनके सात प्रश्नोंमेंसे तीन प्रश्नके उत्तरमें आया है। अर्जुनका प्रश्न था कि *'किं तद्ब्रह्म'* 'वह ब्रह्म क्या है ?' इसके उत्तरमें भगवान्‌ने कहा *'अक्षरं ब्रह्म परमं'* 'परम अविनाशी सच्चिदानन्दघन परमात्मा ब्रह्म है।' *'किं अध्यात्मं'* 'अध्यात्म क्या है ?' के उत्तरमें *'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते'* 'अपना भाव यानी जीवात्मा' और *कः अधियज्ञः'* 'अधियज्ञ कौन है ?' के उत्तरमें *'अधियज्ञोऽहमेवात्र'* 'मैं ईश्वर इस शरीरमें अधियज्ञ हूँ।' ऐसा कहा है। इसी बातको अवतारका कारण बतलानेके पूर्वके श्लोकमें भगवान्‌ने कहा है—

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया॥
(४।६)

'मैं अविनाशीस्वरूप अजन्मा होनेपर भी तथा सब भूत प्राणियोंका ईश्वर होनेपर भी अपनी प्रकृतिको अधीन करके

योगमायासे प्रकट होता हूँ ।' आगे चलकर भगवान्‌ने स्पष्ट कहा है कि मैं जो श्रीकृष्णके रूपमें साधारण मनुष्यसा दीखता हूँ सो मैं ऐसा नहीं, पर असाधारण ईश्वर हूँ । सम्पूर्ण भूतोंके महान् ईश्वररूप मेरे परमभावको न जाननेवाले मूढ़ लोग मनुष्यका शरीर धारण करनेवाले मुझ परमात्माको तुच्छ समझते हैं यानी अपनी योगमायासे संसारके उद्धारके लिये मनुष्यरूपमें विचरते हुए मुझको साधारण मनुष्य मानते हैं (९ । ११) भगवान् श्रीकृष्ण (ईश्वर) और ब्रह्मका अभेद गीतामें कई जगह बतलाया है ।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥
(१४।२७)

'हे अर्जुन ! अविनाशी परब्रह्मका और अमृतका तथा नित्य धामका एवं अखण्ड एकरस आनन्दका मैं ही आश्रय हूँ । अर्थात् ब्रह्म, अमृत, अव्यय और शाश्वत-धर्म तथा ऐकान्तिक सुख यह सब मेरे ही नाम हैं, इसलिये मैं इनका परम आश्रय हूँ ।' गीताके कुछ श्लोकोंसे यह सिद्ध होता है कि जीव ईश्वरसे भिन्न नहीं है। जैसे—

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।
अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥
(१०।२०)

क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
(१३।२)

'हे अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित सबका आत्मा हूं; तथा सम्पूर्ण भूतोंका आदि, मध्य और अन्त भी मैं ही हूँ। सब (शरीररूप) क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा भी मुझको ही जान। इत्यादि !'

इसके अतिरिक्त यह बतलानेवाले भी शब्द हैं कि एक सच्चिदानन्दघन परमात्माके सिवा और कुछ भी नहीं है। जैसे—

मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनंजय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
(७।७)

तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन॥
(९।१९)

'वासुदेवः सर्वमिति ... ...।
(७।१९)

'हे धनञ्जय ! मुझसे अतिरिक्त किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है, यह सम्पूर्ण जगत् सूत्रमें सूत्रके मणियोंके सदृश मुझमें गुँथा हुआ है। मैं ही सूर्यरूप हुआ तपता हूं, मैं ही वर्षाको आकर्षण करता और बरसाता हूँ, हे अर्जुन ! अमृत और मृत्यु एवं सत् तथा असत् भी सब कुछ मैं ही हूँ। यह सब कुछ वासुदेव ही है।' इस प्रकार गीतासे जीव, ईश्वर और ब्रह्मका अभेद सिद्ध होता है।

इस अभेदका स्वरूप बतलाते हुए पण्डितगण जीवात्माको घटाकाश, ईश्वरको मेघाकाश और ब्रह्मको महाकाशके दृष्टान्तसे समझाया करते हैं। जैसे एक ही आकाश उपाधिभेदसे त्रिविध प्रतीत होता है इसी प्रकार एक ब्रह्ममें ही त्रिविध कल्पना है। यह व्याख्या आंशिकरूपसे मान्य और लाभदायक भी है, परन्तु वास्तवमें ब्रह्ममें ऐसा विभाग नहीं समझ लेना चाहिये। आकाश विकारी है, उसमें विकारसे भेद सम्भव है, परन्तु ब्रह्म निर्विकार शुद्ध बोधस्वरूप अटल है, अतएव उसमें आकाशकी भाँति विकार सम्भव नहीं। वास्तवमें यह बड़ा ही गहन विषय है। भगवान्‌ने भी समझानेके लिये कहा है, *'ममैवांशो जीवलोके'* जीवात्मा मेरा ही अंश है, परन्तु वह किस प्रकारका अंश है यह समझना कठिन है। कुछ विद्वान् इसके लिये स्वप्नका दृष्टान्त देते हैं। जैसे स्वप्नकालमें पुरुष अपने ही अन्दर नानाप्रकारके दृश्यों, पदार्थों और व्यक्तियोंको देखता तथा उनसे व्यवहार करता है, परन्तु जागनेके बाद अपने सिवा स्वप्नदृष्ट समस्त पदार्थोंका अत्यन्त अभाव समझता है, स्वप्नमें दीखनेवाले समस्त पदार्थ उसके कल्पित अंश थे इसी प्रकार ये समस्त जीव परमात्माके अंश हैं। यद्यपि यह दृष्टान्त बहुत उपादेय और आदर्श है तथापि इससे यथार्थ वस्तुस्थितिकी सम्यक् उपलब्धि नहीं हो सकती। क्योंकि नित्य चेतन, निर्भ्रान्त, ज्ञानघन परमात्मामें निद्रा, भ्रान्ति और मोहका आरोप किसी भी कालमें नहीं किया जा सकता। अतएव उदाहरण-

युक्तियोंके बलपर इस रहस्यको समझाना असम्भव-सा ही है। गीतोक्त साधनोंद्वारा परमात्माकी और महान् पुरुषोंकी दयासे ही इसका तत्त्व जाना जा सकता है। इसीसे यमराजने नचिकेता-से कहा है—

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।

'उठो जागो और श्रेष्ठ पुरुषोंके समीप जाकर ज्ञान प्राप्त करो।' भगवान्ने भी कहा है—

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः॥
(४।३४)

'इसलिये तत्त्वको जाननेवाले ज्ञानी पुरुषोंसे भली प्रकार दण्डवत्, प्रणाम तथा सेवा और निष्कपट भावसे किये हुए प्रश्नद्वारा उस ज्ञानको जान। वे मर्मको जाननेवाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे।'

परन्तु इससे यही न मान लेना चाहिये कि गीतामें भेदके प्रतिपादक शब्द ही नहीं हैं। ऐसे बहुत-से स्थल हैं जहाँ भेद-मूलक शब्द पाये जाते हैं। भिन्न भिन्न लक्षणोंसे तीनोंका भिन्न भिन्न वर्णन है। शुद्ध ब्रह्मको मायासे अतीत, गुणोंसे अतीत, अनादि, शुद्ध, बोध-ज्ञान-आनन्दस्वरूप अविनाशी आदि बतलाया है। जैसे—

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वाऽमृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते॥
(१३।१२)

'जो जाननेके योग्य है तथा जिसको जानकर (मनुष्य) परमानन्दको प्राप्त होता है, उसको मैं अच्छी प्रकारसे कहूँगा, वह आदिरहित परम ब्रह्म न सत् कहा जाता है और न असत् ही कहा जाता है, वह दोनोंसे अतीत है।' *'अक्षरं ब्रह्म परमं'* *'अचिन्त्यम्, सर्वत्रगम्,' अनिर्देश्यम्, कूटस्थम्, ध्रुवम्, अचलम्, अव्यक्तम्, अक्षरम्*, आदि नामोंसे वर्णन किया गया है, श्रुतियां भी *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म'* आदि कहती हैं।

ईश्वरका वर्णन सृष्टिके उत्पत्ति-पालन-संहारकर्ता और शासनकर्ता आदिके रूपमें किया गया है। यथा—

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते॥
(९।१०)

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः॥
(१०।६)

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया॥
(१८।६१)

'हे अर्जुन ! मुझ अधिष्ठाताके सकाशसे यह मेरी माया चराचरसहित सर्व जगत्को रचती है । इस हेतुसे ही यह संसार आवागमनरूप चक्रमें घूमता है । सातों महर्षि और उनसे भी पूर्वमें होनेवाले चारों सनकादि तथा स्वायंभुव आदि चौदह मनु मेरेमें भाववाले मेरे संकल्पसे उत्पन्न हुए हैं, जिनकी संसारमें यह सम्पूर्ण प्रजा है । हे अर्जुन ! शरीररूप यन्त्रमें आरूढ़ हुए सम्पूर्ण प्राणियोंको अन्तर्यामी परमेश्वर अपनी मायासे उनके कर्मोंके अनुसार भ्रमाता हुआ सब भूत प्राणियोंके हृदयमें स्थित है ।' इसी तरह अ० ४ । १३ में 'चातुर्वर्ण्यके कर्ता' अ० ५।२९ में 'सर्वलोकमहेश्वर' अ० ७। ६ में 'सम्पूर्ण जगत्के उत्पत्ति प्रलय-रूप'; अ० ११ । ३२ में 'लोक-संहारमें प्रवृत्त महाकाल' इत्यादि रूपोंसे वर्णन है ।

जीवात्माका भोक्ता, कर्ता, ज्ञाता, अंश, अविनाशी, नित्य आदि लक्षणोंसे निरूपण किया गया है । जैसे—अध्याय २ । १८ में 'नित्य अविनाशी अप्रमेय'; अध्याय १३ । २१ में प्रकृतिमें स्थित गुणोंके भोक्ता और गुणोंके संगसे अच्छी बुरी योनियोंमें जन्म लेनेवाला' अ० १५ । ७ में सनातन अंश, अ० १५ । १६में 'अक्षर कूटस्थ' आदि लक्षणोंसे वर्णन है ।

इस प्रकार गीतामें अभेद-भेद दोनों प्रकारके वर्णन पाये जाते हैं । एक ओर जहां अभेदकी बड़ी प्रशंसा है, वहां दूसरी

ओर (अ० १२।२ में) सगुणोपासककी प्रशंसा कर भेदकी महिमा बढ़ायी गयी है। इससे स्वाभाविक ही यह शङ्का होती है कि गीतामें भेदका प्रतिपादन है या अभेदका ? जब भेद और अभेद दोनोंका स्पष्ट वर्णन मिलता है तब उनमेंसे किसी एकको गलत नहीं कहा जा सकता। परन्तु सत्य कभी दो नहीं हो सकते, वह तो एक ही होता है। अतः इस विषयपर विचार करनेसे यही अनुमान होता है कि वास्तवमें जो वस्तु तत्त्व है उसको न भेद ही कहा जा सकता है और न अभेद ही। वह सबसे विलक्षण है, मन-वाणीसे परे है, वह वस्तुस्थिति वाणी या तर्क-युक्तियोंसे समझी या समझायी नहीं जा सकती, जो जानते हैं वे ही जानते हैं। जाननेवाले भी उसका वाणीसे वर्णन नहीं कर सकते। श्रुति कहती है—

नाहं मन्ये सुवेदेति नो न वेदेति वेद च।
यो नस्तद्वेद तद्वेद नो न वेदेति वेद च॥

(केन उ०)

जबतक वास्तविक तत्त्वको मनुष्य नहीं समझ लेता, तब-तक इनका भेद मानकर साधन करना अधिक सुरक्षित और लाभदायक है,' गीतामें दोनों प्रकारके वर्णनोंसे यह प्रतीत होता है कि दयामय भगवान्‌ने दो प्रकारके अधिकारियोंके लिये दो अवस्थाओंका वर्णन किया है। वास्तविक स्वरूप अनिर्वचनीय

है। वह अतर्क्य विषय परमात्माकी कृपासे ही जाननेमें आ सकता है। उस तत्त्वको यथार्थरूपसे जाननेका सरल उपाय उस परमात्माकी शरणागति है। इसमें सबका अधिकार है। भगवान्‌ने कहा है।—

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥
(९। ३२)

'स्त्री, वैश्य और शूद्रादि तथा पापयोनिवाले भी जो कोई होवें वे भी मेरे शरण होकर तो परमगतिको ही प्राप्त होते हैं।'—

आगे चलकर भगवान्‌ने स्पष्ट कह दिया है कि—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥
(१८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, उस परमात्माकी कृपासे ही परमशान्तिको और सनातन परमधामको प्राप्त होगा।' वह परमेश्वर श्रीकृष्ण ही हैं, इसलिये अन्तमें उन्होंने कहा—

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः॥
(१८। ६६)

'सर्व धर्मोंको अर्थात् सम्पूर्ण कर्मोंके आश्रयको त्यागकर केवल एक मुझ सच्चिदानन्दघन वासुदेव परमात्माकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो, मैं तुझको समस्त पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तू शोक मत कर!'*

(३)

गीताके अनुसार कर्म, विकर्म और अकर्मका स्वरूप

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥

(गीता ४ । १७)

कर्मकी गति बड़ी ही गहन है, इसीसे भगवान् बड़ा जोर देकर उसे समझनेके लिये कहते हैं और समझाते हैं। यहाँ कर्मकी तीन संज्ञा की गयी है–कर्म, विकर्म और अकर्म। यद्यपि इस बातका निर्णय करना बहुत कठिन है कि भगवान्‌का अभिप्राय वास्तवमें क्या है, परन्तु विचार करनेपर जो कुछ समझमें आता है वही लिखा जाता है। साधारणतया विद्वज्जन इनका स्वरूप यही समझते हैं कि, १–इस लोक या परलोकमें जिसका फल सुखदायी हो उस उत्तम क्रियाका नाम कर्म है। २–जिसका फल इस लोक या परलोकमें दुखदायी हो उसका

* शरणागतिके विषयमें सविस्तर देखना हो तो 'तत्त्वचिन्तामणि' नामक गीता प्रेससे प्रकाशित पुस्तकमें देखिये।

नाम विकर्म है और ३—जो कर्म या कर्मत्याग किसी फलकी उत्पत्तिका कारण नहीं होता उसका नाम अकर्म है। इन तीनोंके रहस्यको समझना इसलिये भी बड़ा कठिन हो रहा है कि हम लोगोंने मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली सम्पूर्ण क्रियाओंको ही कर्म नाम दे रक्खा है, परन्तु यथार्थमें यह बात नहीं है। यदि यही बात होती तो फिर ऐसा कौन-सा रहस्य था जो सर्वसाधारणके समझमें न आता ? भगवान् भी क्यों कहते कि कर्म और अकर्म क्या हैं इस विषयमें बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हो जाते हैं (*'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।'*) और क्यों इसे गहन ही बतलाते ?

इससे यह सिद्ध होता है कि मन, वाणी, शरीरकी स्थूल क्रिया या अक्रियाका नाम ही कर्म, विकर्म या अकर्म नहीं है। कर्ताके भावोंके अनुसार कोई भी क्रिया कर्म, विकर्म और अकर्मके रूपमें परिणत हो सकती है। साधारणतः तीनोंका भेद इस प्रकार समझना चाहिये।

कर्म

मन, वाणी, शरीरसे होनेवाली विधिसंगत उत्तम क्रियाको ही कर्म मानते हैं, पर ऐसी विधिरूप क्रिया भी कर्ताके भावोंकी विभिन्नताके कारण कर्म, विकर्म या अकर्म बन जाती है। इसमें भाव ही प्रधान है, जैसे—

(१) फलकी इच्छासे शुद्ध भावनापूर्वक जो विधिसंगत उत्तम कर्म किया जाता है उसका नाम कर्म है।

(२) फलकी इच्छापूर्वक बुरी नीयतसे जो यज्ञ, तप, दान, सेवा आदि रूप विधेय कर्म भी किया जाता है वह कर्म तमोगुणप्रधान होनेसे विकर्म यानी पापकर्म हो जाता है। यथा—

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्॥
(१७।१९)

'जो तप मूढ़तापूर्वक हठसे मन, वाणी, शरीरकी पीड़ासहित अथवा दूसरेका अनिष्ट करनेकी नीयतसे किया जाता है वह तामस कहा गया है।'

(३) क—फलासक्तिरहित हो भगवदर्थ या भगवदर्पण बुद्धिसे अपना कर्तव्य समझकर जो कर्म किया जाता है (*गीता* ९। २७-२८; १२। १०-११) मुक्तिके अतिरिक्त अन्य फलोत्पादक न होनेके कारण उस कर्मका नाम अकर्म है। अथवा—

ख—परमात्मामें अभिन्न भावसे स्थित होकर कर्तापनके अभिमानसे रहित पुरुषद्वारा जो कर्म किया जाता है वह भी मुक्तिके अतिरिक्त अन्य फल नहीं देनेवाला होनेसे अकर्म ही है। (*गीता* ३।२८;५।८-९;१४।१९)

विकर्म

साधारणतः मन, वाणी, शरीरसे होनेवाले हिंसा, असत्य, चोरी आदि अकर्तव्य या निषिद्ध कर्ममात्र ही विकर्म समझे जाते हैं; परन्तु वे भी कर्ताके भावानुसार कर्म, विकर्म या अकर्मके रूपमें बदल जाते हैं। इनमें भी भाव ही प्रधान है–

(१) इहलौकिक या पारलौकिक फलेच्छापूर्वक शुद्ध नीयतसे किये जानेवाले हिंसादि कर्म (जो देखनेमें विकर्मसे लगते हैं) कर्म समझे जाते हैं. *(गीता २ । ३७)*

(२) बुरी नीयतसे किये जानेवाले निषिद्ध कर्म तो सभी विकर्म हैं।

(३) आसक्ति और अहंकारसे रहित होकर शुद्ध नीयतसे कर्तव्य प्राप्त होनेपर किये जानेवाले हिंसादि कर्म (जो देखनेमें विकर्म यानी निषिद्ध कर्मसे प्रतीत होते हैं) भी फलोत्पादक न होनेके कारण अकर्म समझे जाते हैं। (*गीता* २।३८;१८।१७)

अकर्म

मन, वाणी, शरीरकी क्रियाके अभावका नाम ही अकर्म नहीं है। क्रिया न करनेवाले पुरुषोंके भावोंके अनुसार उनका क्रिया त्यागरूप अकर्म भी कर्म, विकर्म और अकर्म बन सकता है। इसमें भी भाव ही प्रधान है।

(१) मन, वाणी, शरीरकी सब क्रियाओंको त्यागकर एकान्तमें बैठा हुआ क्रियारहित साधक पुरुष जो अपनेको सम्पूर्ण क्रियाओंका त्यागी समझता है, उसके द्वारा स्वरूपसे कोई काम होता हुआ न दीखनेपर भी त्यागका अभिमान रहनेके कारण उससे वह 'त्याग' रूप कर्म होता है। यानी उसका वह त्यागरूप अकर्म भी कर्म बन जाता है।

(२) कर्तव्य प्राप्त होनेपर भय या स्वार्थके कारण, कर्तव्यकर्मसे मुँह मोड़ना विहित कर्मोंको न करना और बुरी नीयतसे लोगोंको, ठगनेके लिये कर्मोंका त्याग कर देना आदिमें भी स्वरूपसे कर्म नहीं होते, परन्तु यह अकर्म दुःखरूप फल उत्पन्न करता है, इससे इसको विकर्म या पापकर्म समझना चाहिये। (३।६;१८।७)

(३) परमात्माके साथ अभिन्न भावको प्राप्त हुए जिस पुरुषका कर्तृत्वाभिमान सर्वथा नष्ट हो गया है, ऐसे स्थितप्रज्ञ पुरुषके अन्दर समाधि-कालमें जो क्रियाका आत्यन्तिक अभाव है, वह अकर्म ही यथार्थ अकर्म है। (२।५५,५८;६।१९,२५)

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध होता है कि कर्म, विकर्म और अकर्मका निर्णय केवल क्रियाशीलता और निष्क्रियतासे ही नहीं होता। भावोंके अनुसार ही कर्ममें अकर्म और अकर्ममें कर्म आदि हो जाते हैं। इस रहस्यको तत्त्वसे जाननेवाला ही गीताके

मतसे मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और सम्पूर्ण कर्मोंके करनेवाला है।

स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ।

और वही संसार-बन्धनसे सर्वथा छूटता है–

'यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।'

(४)

क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तम

सातवें अध्यायके चौथे, पाँचवें और छठें श्लोकोंमें 'अपरा' 'परा' और 'अहं' के रूपमें जिस तत्त्वका वर्णन है, उसीका तेरहवें अध्यायके पहले और दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्र' 'क्षेत्रज्ञ' और 'माम्' के नामसे एवं पन्द्रहवें अध्यायके सोलह और सतरहवें श्लोकमें 'क्षर' 'अक्षर' और 'पुरुषोत्तम'के नामसे है। इन तीनोंमें 'अपरा' 'क्षेत्र' और 'क्षर' प्रकृतिसहित इस जड़ जगत्के वाचक हैं; 'परा' 'क्षेत्रज्ञ' और 'अक्षर' जीवके वाचक हैं तथा 'अहं' 'माम्' और 'पुरुषोत्तम' परमेश्वरके वाचक हैं।

क्षर–प्रकृतिसहित विनाशी जड़ तत्त्वोंका विस्तार तेरहवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें है,–

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ॥

आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वीके सूक्ष्म भावरूप पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति अर्थात् त्रिगुणमयी माया,

(श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, घ्राण, वाणी, हस्त, पाद, उपस्थ और गुदा) दस इन्द्रियाँ, एक मन और पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंके (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध) पाँच विषय इस प्रकार चौबीस क्षर तत्त्व हैं। सातवें अध्यायके चौथे श्लोकमें इन्हींका संक्षेप अष्टधा प्रकृतिके रूपमें किया गया है-

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥
(७।४)

और भूतोंसहित इसी प्रकृतिका और भी संक्षेपरूप पन्द्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें *'क्षरः सर्वाणि भूतानि'* है। या यों समझना चाहिये कि *'क्षरः सर्वाणि भूतानि'* का विस्तार अष्टधा प्रकृति और उसका विस्तार चौबीस तत्त्व हैं। वास्तवमें तीनों एक ही वस्तु हैं। सातवें अध्यायके तीसवें और आठवें अध्यायके पहले तथा चौथे श्लोकमें 'अधिभूत' के नामसे, तेरहवें अध्यायके बीसवें श्लोकके पूर्वार्द्धमें (दस) कार्य, (तेरह) करण, और (एक) प्रकृतिके नामसे (*कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते*) एवं चौदहवें अध्यायके तीसरे और चौथे श्लोकमें *'महद्ब्रह्म'* शब्दसे भी इसी प्रकृतिसहित विनाशी जगत्का वर्णन किया गया है।

अक्षर—सातवें अध्यायके पाँचवें श्लोकमें 'पराप्रकृति' के नामसे, तेरहवें अध्यायके दूसरे श्लोकमें 'क्षेत्रज्ञ' के नामसे और

पन्द्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें कूटस्थ और अक्षरके नामसे जीवका वर्णन है। यह जीवात्मा प्रकृतिसे श्रेष्ठ है, ज्ञाता है, चेतन है तथा अक्षर होनेसे नित्य है। पन्द्रहवें अध्यायके सोलहवें श्लोकमें 'कूटस्थोऽक्षर उच्यते' के अनुसार जीवका विशेषण 'कूटस्थ' होनेके कारण कुछ सज्जनोंने इसका अर्थ प्रकृति या भगवान्‌की मायाशक्ति किया है परन्तु गीतामें 'अक्षर' और 'कूटस्थ' शब्द कहीं भी प्रकृतिके अर्थमें व्यवहृत नहीं हुए, बल्कि ये दोनों ही स्थान स्थानमें जीवात्मा और परमात्माके वाचकरूपसे आये हैं। जैसे–

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः॥
(६।८)

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यं च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
(१२।३)

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
(८।२१)

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
(३।१५)

दूसरी बात यह विचारणीय है कि आगे चलकर अठारहवें श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि मैं 'क्षर' से अतीत हूँ और 'अक्षर'

से भी उत्तम हूं । यदि 'अक्षर' प्रकृतिका वाचक होता तो 'क्षर' की भाँति इससे भी भगवान् अतीत ही होते, क्योंकि प्रकृतिसे तो परमात्मा अतीत हैं । गीतामें ही भगवान्‌ने कहा है—

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥
दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
(७ । १३-१४)

इन श्लोकोंसे सिद्ध है कि प्रकृति गुणमयी है और भगवान् गुणोंसे अतीत हैं । कहीं भी ऐसा वचन नहीं मिलता, जहाँ ईश्वरको प्रकृतिसे उत्तम बतलाया गया हो । इससे यही समझमें आता है कि यहाँ 'अक्षर' शब्द जीवका वाचक है । मायाबद्ध चेतन जीवसे शुद्ध निर्विकार परमात्मा उत्तम हो सकते हैं, अतीत नहीं हो सकते । इसलिये यहाँ अक्षरका अर्थ प्रकृति न मानकर जीव मानना ही उत्तम और युक्तियुक्त है । स्वामी श्रीधरजीने भी यही माना है ।

इसी जीवात्माका वर्णन सातवें अध्यायके २९ वें और आठवें अध्यायके पहले तथा तीसरे श्लोकमें 'अध्यात्म' के नामसे एवं तेरहवें अध्यायके श्लोक १९, २०, २१ में 'पुरुष' शब्दसे है । वहाँ सुख-दुःखोंके भोक्ता प्रकृतिमें स्थित, और सदसद् योनिमें जन्म लेनेवाला बतलानेके कारण पुरुष शब्दसे 'जीवात्मा' सिद्ध है ।

पन्द्रहवें अध्यायके सातवें श्लोकमें 'जीवभूत' नामसे और आठवेंमें 'ईश्वर' नामसे, चौदहवें अध्यायके तीसरेमें 'गर्भ' और 'बीज' के नामसे भी जीवात्माका ही कथन है । जीवात्मा चेतन है, अचल है, ध्रुव है, नित्य है, भोक्ता है, इन सब भावोंको समझानेके लिये ही भगवान्‌ने विभिन्न नाम और भावोंसे वर्णन किया है ।

पुरुषोत्तम—यह तत्त्व परम दुर्विज्ञेय है, इसीसे भगवान्‌ने अनेक भावोंसे इसका वर्णन किया है। कहीं सृष्टिपालन और संहारकर्त्तारूपसे, कहीं शासकरूपसे, कहीं धारणकर्त्ता और पोषणकर्त्ताके भावसे, कहीं पुरुषोत्तम परमेश्वर परमात्मा अव्यय और ईश्वर आदि नाना नामसे वर्णन है । 'अहं' 'माम्' आदि शब्दोंसे जहाँ तहाँ इसी परम अव्यक्त, पर, अविनाशी, नित्य, चेतन, आनन्द, बोधस्वरूपका वर्णन किया गया है । जैसे—

अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा॥
(७ । ६)

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः॥
(१५ । १७)

अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥
(१५ । १८)

—वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्—
(१५ । १५)

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
(१३ । २७)

उपर्युक्त क्षर, अक्षर और पुरुषोत्तमके वर्णनमें क्षर प्रकृति तो जड़ और विनाशशील है । अक्षर जीवात्मा नित्य, चेतन, आनन्दरूप प्रकृतिसे अतीत और परमात्माका अंश होनेके कारण परमात्मासे अभिन्न होते हुए भी अविद्यासे सम्बन्ध होनेके कारण भिन्न-सा प्रतीत होता है । ज्ञानके द्वारा अविद्याका सम्बन्ध नाश हो जाने पर जब वह परमात्माके साथ एकीभावको प्राप्त हो जाता है, तब उसे परमात्मासे भिन्न नहीं कहा जाता अतएव वास्तवमें वह परमात्मासे भिन्न नहीं है । पुरुषोत्तम परमात्मा नित्य-मुक्त प्रकृतिसे सदा अतीत, सबका महाकारण अज अविनाशी है। प्रकृतिके सम्बन्धसे उसे भर्त्ता, भोक्ता, महेश्वर आदि नामोंसे कहते हैं। प्रकृति और समस्त कार्य परमात्मामें केवल अध्यारोपित है। वस्तुत: परमात्माके सिवा अन्य कोई वस्तु है ही नहीं । इस रहस्यका तत्त्व जाननेको ही परम पदकी प्राप्ति और मुक्ति कहा जाता है। अतः इसको जाननेके लिये विशेष प्रयत्न करना चाहिये। भगवान् कहते हैं--

तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा॥
(६ । २३)

जो दुःखरूप संसारके संयोगसे रहित है, जिसका नाम योग

है उसको जानना चाहिये वह परमात्माकी प्राप्तिरूप योग तत्पर-चित्तसे निश्चयपूर्वक ही करना चाहिये।

(५)

गीता मायावाद मानती है या परिणामवाद

श्रीमद्भगवद्गीतामें दोनों ही वादोंके समर्थक शब्द मिलते हैं, इससे निश्चयरूपसे यह नहीं कहा जा सकता कि गीताको वास्तवमें कौन-सा वाद स्वीकार है। मेरी समझसे गीताका प्रतिपाद्य विषय कोई वाद विशेष नहीं है। सच्चिदानन्दघन सर्वशक्तिमान् परमात्माको प्राप्त करना गीताका उद्देश्य है। जिसके उपायस्वरूप कई प्रकारके मार्ग बतलाये गये हैं, जिनमें परिणामवाद और मायावाद दोनों ही आ जाते हैं। जैसे—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
राञ्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
राञ्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे॥

(८। १८-१९)

इसलिये वे यह भी जानते हैं, कि सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्माके दिनके प्रवेशकालमें अव्यक्तसे अर्थात् ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरसे उत्पन्न होते हैं, और ब्रह्माकी रात्रिके प्रवेशकालमें उस अव्यक्त नामक ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं ॥१८॥

और वह ही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो होकर, प्रकृतिके वशमें हुआ, रात्रिके प्रवेशकालमें लय होता है और दिनके प्रवेश-कालमें फिर उत्पन्न होता है, हे अर्जुन ! इस प्रकार ब्रह्माके एक सौ वर्ष पूर्ण होनेसे अपने लोकसहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है ॥१९॥

इन श्लोकोंसे यह स्पष्ट प्रकट है कि समस्त व्यक्त जड़ पदार्थ अव्यक्त समष्टि शरीरसे उत्पन्न होते हैं और अन्तमें उसीमें लय हो जाते हैं । यहाँ यह नहीं कहा कि उत्पन्न या लय होते हुएसे प्रतीत होते हैं, वास्तवमें नहीं होते, परन्तु स्पष्ट उत्पन्न होना अर्थात् उस अव्यक्तका ही व्यक्तरूपमें परिणाम—को प्राप्त होना और दूसरा परिणाम व्यक्तसे पुनः अव्यक्तरूप होना बतलाया है । इन अव्यक्त तत्त्वोंका संघात (सूक्ष्म समष्टि) भी महाप्रलयके अन्तमें मूल अव्यक्तमें विलीन हो जाता है और उसीसे उसकी उत्पत्ति होती है । उस मूल अव्यक्त प्रकृतिको ही भगवान्‌ने चौदहवें अध्यायके श्लोक ३, ४ में 'महद्ब्रह्म' कहा है । महासर्गकी आदिमें सम्पूर्ण मूर्तियों (शरीरों) की उत्पत्तिमें महद्ब्रह्मको ही कारण बतलाया है । अर्थात् जड़वर्गके विस्तारमें इस प्रकृतिको ही हेतु माना है । गीता अध्याय १३ । १९-२० में भी कार्य-करणरूप तेईस तत्त्वोंको ही प्रकृतिका विस्तार बतलाया है ।* इससे यह सिद्ध होता है कि जो कुछ देखनेमें आता है, सो

---

* आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी रूप पांच महाभूत एवं शब्द,

सब प्रकृतिका कार्य है। यानी प्रकृति ही परिणामको प्राप्त हुई है। जीवात्मा-सहित जो चतुर्विध जीवोंकी उत्पत्ति होती है, वह प्रकृति और उस पुरुषके संयोगसे होती है। इनमें जितने देह--शरीर हैं, वे सब प्रकृतिका परिणाम हैं और उन सबमें जो चेतन है सो परमेश्वरका अंश है। चेतनरूप बीज देनेवाला पिता भगवान् हैं। भगवान् कहते हैं--

---

स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच विषय इन दशको कार्य कहते हैं। बुद्धि, अहंकार, मन, (अन्तःकरण), श्रोत्र, त्वक्, रसना, नेत्र, घ्राण (ज्ञानेन्द्रियां) एवं वाणी, हाथ, पैर, उपस्थ, गुदा (कर्मेन्द्रियां) इन तेरहके समुदायका नाम करण है। सांख्यकारिकामें कहा है--मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त। षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुष (सां०का०३) मूल प्रकृति-विकृति नहीं है, महत् आदि सात प्रकृति-विकृति हैं, सोलह विकार हैं और पुरुष न प्रकृति है न विकृति है।

अव्याकृत मायाका नाम मूल प्रकृति है। वह किसीका विकार न होनेके कारण किसीकी विकृति नहीं है। ऐसा कहा जाता है। महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि), अहङ्कार, भूतोंकी सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएं ये सात प्रकृति विकृति हैं। मूल प्रकृतिका विकार होनेसे इनको विकृति कहते हैं एवं इनसे अन्य विकारोंकी उत्पत्ति होती है इसीसे इन्हे ही प्रकृति कहते हैं, अतएव दोनों मिलकर इनका नाम प्रकृति विकृति है। पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, एक मन और पांच स्थूल भूत ये सोलह विकृति हैं। सात प्रकृति अहङ्कार और तन्मात्रासे इनकी उत्पत्ति होनेके कारण इन्हें विकृति कहते हैं। इनसे आगे अन्य किसीकी उत्पत्ति नहीं है इससे ये किसीकी प्रकृति नहीं हैं विकृतिमात्र हैं। सांख्यके अनुसार मूल प्रकृतिसे महत्तत्त्व महत्तत्त्वसे अहङ्कार, अहङ्कारसे पञ्चतन्मात्रा, फिर अहङ्कारसे ११ मनेन्द्रियां और पञ्चतन्मात्रासे पञ्च स्थूल भूत। गीताके १३ वें अध्यायके ५वें श्लोकमें भी प्रायः ऐसा ही वर्णन है।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः संभवन्ति याः ।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ॥
(१४ । ४)

'हे अर्जुन ! नानाप्रकारकी सब योनियोंमें जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते हैं, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भको धारण करनेवाली माता है और मैं बीजको स्थापन करनेवाला पिता हूँ ।' गीतामें इसप्रकार समस्त प्राणियोंकी उत्पत्तिमें प्रकृतिसहित पुरुषका कथन जगह जगह मिलता है, कहीं परमेश्वरकी अध्यक्षतासे प्रकृति उत्पन्न करती है, ऐसा कहा गया है (९ । १०) तो कहीं मैं उत्पन्न करता हूँ (९ । ८) ऐसे वचन मिलते हैं । सिद्धान्त एक ही है ।

उपर्युक्त विवेचनसे यह सिद्ध हो जाता है कि यह सारा चराचर जगत् प्रकृतिका परिणाम है । परमेश्वर अपरिणामी है गुणोंसे अतीत है । इस संसारके परिणाममें परमेश्वर प्रकृतिको सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करता है, सहायता करता है ; परन्तु उसके परिणामसे परिणामी नहीं होता । आठवें अध्यायके २०वें श्लोकमें यह स्पष्ट कहा है कि 'अव्यक्त प्रकृतिसे परे जो एक सनातन अव्यक्त परमात्मा है, उसका कभी नाश नहीं होता अर्थात् वह परिणामरहित एकरस रहता है ।' इसीलिये गीताने उसीको समझना यथार्थ

बतलाया है जो सम्पूर्ण भूतोंके नाश होनेपर भी परमात्माको अविनाशी एकरस समझता है—

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ॥

(१३ । २७)

इससे सिद्ध होता है कि नित्य शुद्ध बोधस्वरूप परमात्मामें कभी कोई परिवर्तन नहीं होता। वास्तवमें इस परिवर्तनशील संसारका ही परिवर्तन होता है। इसप्रकार गीतामें परिणामवादका समर्थन किया गया है।

इसके विपरीत गीतामें ऐसे श्लोक भी बहुत हैं जिनके आधारपर अद्वैत मतके अनुसार व्याख्या करनेवाले विद्वान् मायावाद सिद्ध करते हैं। भगवान्‌ने कहा है—'मेरी योगमायाका आश्चर्यजनक कार्य देख, जिससे बिना ही हुआ जगत् मुझसे परिणामको प्राप्त हुआ-सा दीखता है (*न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्* ९ । ५) यानी वास्तवमें संसार मुझ (परमात्मा) में है नहीं । पर दीखता है इस न्यायसे है भी । अतः यह सब मेरी मायाका खेल है। जैसे रज्जुमें बिना ही हुए सर्प दीखता है वैसे ही बिना ही हुए अज्ञानसे संसार भी भासता है। आगे चलकर भगवान्‌ने जो यह कहा है कि 'जैसे आकाशसे उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरनेवाला महान् वायु सदा ही आकाशमें

स्थि ... वाले होनेसे सम्पूर्ण भूत ... े यह नहीं समझना चाहि ... आकाशस ... ीमें रहनेवाले वायुके समान ... र भगवान्में है ... केवल समझानेके लिये है। ... अध्यायमें भगवा ... कहा है कि सात्त्विक, राजस तामस ... मुझसे उत्पन्न होते हैं परन्तु वास्तवमें उनमें मैं और वे मुझ ... ही हैं (न त्वहं तेषु ते मयि ७। १२)

... अतिरिक्त किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है' *(मत्तः परतरं न यत् किञ्चिदस्ति धनंजय ७।७)*; 'सब कुछ वासुदेव ही है' *(वासुदेवः सर्वमिति ७। १९)*; 'इस संसार-वृक्षका जैसा स्वरूप कहा है, वैसा यहाँ (विचारकालमें) पाया नहीं जाता' *(न रूपमस्येह तथोपलभ्यते)* आदि वचनोंसे मायावादकी पुष्टि होती है। एक परमात्माके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जो कुछ प्रतीत होता है सो केवल मायामात्र है।

इस तरह दोनों प्रकारके वादोंको न्यूनाधिकरूपसे समर्थन करनेवाले वचन गीतामें मिलते हैं। मेरी समझसे गीता किसी वादविशेषका प्रतिपादन नहीं करती, वह किसी वादके तत्त्वको समझानेके लिये अवतरित नहीं हुई, वह तो सब वादोंको समन्वय करके ईश्वर-प्राप्तिके भिन्न भिन्न मार्ग बतलाती है। गीतामें दोनों ही वादोंके माननेवालोंके लिये पर्याप्त वचन मिलते हैं, इससे

गीता सभीके लिये उपयोगी है। अपने अपने मत और अधिकारके अनुसार गीताका अनुसरण कर भगवत्प्राप्तिके मार्गपर आरूढ होना चाहिये।

(६)

ज्ञानयोग आदि शब्दोंका पृथक् पृथक् अर्थोंमें प्रयोग

श्रीमद्भगवद्गीतामें कई शब्द ऐसे हैं जिनका प्रसंगानुसार भिन्न भिन्न अर्थोंमें प्रयोग हुआ है। उदाहरणार्थ ज्ञान, योग, योगी, युक्त, आत्मा, ब्रह्म, अव्यक्त और अक्षरके कुछ भेद प्रमाणसहित बतलाये जाते हैं। एक एक अर्थके लिये प्रमाणमें विस्तार भयसे केवल एक ही प्रसंगका अवतरण दिया जाता है। परन्तु ऐसे प्रसंग प्रत्येक अर्थके लिये एकाधिक या बहुतसे मिल सकते हैं—

ज्ञान

'ज्ञान' शब्दका प्रयोग गीतामें ७ सात अर्थोंमें हुआ है जैसे—

(१) *तत्त्वज्ञान*—अ० ४। ३७-३८—इनमें ज्ञानको सम्पूर्ण कर्मोंके भस्म करनेवाले अग्निके समान और अतुलनीय पवित्र बतलाया है, जो तत्त्वज्ञान ही हो सकता है।

(२) *सांख्यज्ञान*—अ० ३। ३—इसमें सांख्यनिष्ठामें स्पष्ट 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग है।

(३) *परोक्षज्ञान*–अ० १२ । १२–इसमें ज्ञानकी अपेक्षा ध्यान और कर्मफल-त्यागको श्रेष्ठ बतलाया है, इससे यह ज्ञान तत्त्वज्ञान नहीं होकर, परोक्षज्ञान है ।

(४) *साधनज्ञान*–अ० १३ । ११–यह ज्ञान तत्त्वज्ञानके अर्थरूप परमात्माकी प्राप्तिमें हेतु है । इससे साधनज्ञान है ।

(५) *विवेकज्ञान*–अ० १४ । १७–यह सतोगुणसे उत्पन्न होनेवाला है, इससे विवेकज्ञान है ।

(६) *लौकिक ज्ञान*–अ० १८ । २१–इस ज्ञानसे मनुष्य सब प्राणियोंमें भिन्न भिन्न भाव देखता है, इसलिये यह राजस या लौकिक ज्ञान है ।

(७) *शास्त्रज्ञान*–अ० १८ । ४२–इसमें विज्ञान शब्द साथ रहने और ब्राह्मणका स्वाभाविक धर्म होनेके कारण यह शास्त्रज्ञान है ।

योग

'योग' शब्दका प्रयोग सात ७ अर्थोंमें हुआ है ।

(१) *भगवत्-प्राप्तिरूप योग*–अ० ६ । २३–इसके पूर्व श्लोकमें परमानन्दकी प्राप्ति और इसमें दुःखोंका अत्यन्त अभाव बतलाया गया है, इससे यह योग परमात्माकी प्राप्तिका वाचक है ।

(२) *ध्यानयोग*–अ० ६ । १९–वायुरहित स्थानमें स्थित

दीपककी ज्योतिके समान चित्तकी अत्यन्त स्थिरता होनेके कारण यह ध्यानयोग है ।

(३) *निष्काम कर्मयोग*—अ० २ । ४८—योगमें स्थित होकर आसक्तिरहित हो तथा सिद्धि-असिद्धिमें समान बुद्धि होकर कर्मोंके करनेकी आज्ञा होनेसे यह निष्काम कर्मयोग है ।

(४) *भगवत्-शक्तिरूप योग*—अ० ९ । ५—इसमें आश्चर्य-जनक प्रभाव दिखलानेका कारण होनेसे यह शक्तिका वाचक है ।

(५) *भक्तियोग*—अ० १४ । २६—निरन्तर अव्यभिचार-रूपसे भजन करनेका उल्लेख होनेसे यह भक्तियोग है । इसमें स्पष्ट 'भक्तियोग' शब्द है ।

(६) *अष्टाङ्गयोग*—अ० ८ । १२—धारणा शब्द साथ होने तथा मन-इन्द्रियोंके संयम करनेका उल्लेख होनेके साथ ही मस्तकमें प्राण चढ़ानेका उल्लेख होनेसे यह अष्टांगयोग है ।

(७) *सांख्ययोग*—अ० १३ । २४—इसमें सांख्ययोगका स्पष्ट शब्दोंसे उल्लेख है ।

योगी

'योगी' शब्दका प्रयोग नौ ९ अर्थोंमें हुआ है ।

(१) *ईश्वर*—अ० १० । १७—भगवान् श्रीकृष्णका सम्बोधन होनेसे ईश्वरवाचक है ।

(२) *आत्मज्ञानी*—अ० ६ । ८ ज्ञान विज्ञानमें तृप्त और स्वर्ण मिट्टी आदिमें समतायुक्त होनेसे आत्मज्ञानीका वाचक है ।

(३) *ज्ञानी-भक्त*—अ० १२ । १४—परमात्मामें मन बुद्धि लगानेवाला होने तथा 'मद्भक्त' का विशेषण होनेसे ज्ञानीभक्तका वाचक है ।

(४) *निष्काम कर्मयोगी*—अ० ५ । ११—आसक्तिको त्याग-कर आत्मशुद्धिके लिये कर्म करनेका कथन होनेसे निष्काम कर्मयोगी-का वाचक है ।

(५) *सांख्ययोगी*—अ० ५ । २४—अभेदरूपसे ब्रह्मकी प्राप्ति इसका फल होनेके कारण यह सांख्ययोगीका वाचक है ।

(६) *भक्तियोगी*—अ० ८ । १४—अनन्यचित्तसे नित्य निरन्तर भगवान्‌के स्मरणका उल्लेख होनेसे यह भक्तियोगीका वाचक है ।

(७) *साधकयोगी*—अ० ६ । ४५—अनेक जन्मसंसिद्ध होने-के अनन्तर ज्ञानकी प्राप्तिका उल्लेख है, इससे यह साधकयोगीका वाचक है ।

(८) *ध्यानयोगी*—अ० ६ । १०—एकान्त स्थानमें स्थित होकर मनको एकाग्र करके आत्माको परमात्मामें लगानेकी प्रेरणा होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है ।

(९) *सकाम कर्मयोगी*–अ० ८ । २५–वापस लौटनेवाला होनेसे यह सकाम कर्मयोगीका वाचक है ।

युक्त

'युक्त' शब्दका प्रयोग सात ७ अर्थोंमें हुआ है ।

(१) *तत्त्वज्ञानी*–अ० ६ । ८–ज्ञानविज्ञानसे तृप्तात्मा होनेसे यह तत्त्वज्ञानीका वाचक है ।

(२) *निष्काम कर्मयोगी*–अ० ५ । १२–कर्मोंका फल परमेश्वरके अर्पण करनेवाला होनेसे यह निष्काम कर्मयोगीका वाचक है ।

(३) *सांख्ययोगी*–अ० ५ । ८–सब क्रियाओंके होते रहने-पर कर्त्तापनके अभिमानका न रहना बतलाया जानेके कारण सांख्य-योगीका वाचक है ।

(४) *ध्यानयोगी*–अ० ६ । १८–वशमें किया हुआ चित्त परमात्मामें स्थित हो जानेका उल्लेख होनेसे यह ध्यानयोगीका वाचक है ।

(५) *संयमी*–अ० २ । ६१–समस्त इन्द्रियोंका संयम करके परमात्म-परायण होनेसे यह संयमीका वाचक है ।

(६) *संयोगसूचक*–अ० ७ । २२–श्रद्धाके साथ संयोग बतानेवाला होनेसे यह संयोगसूचक है ।

(७) *यथायोग्य व्यवहार*–अ० ६ । १७–यथायोग्य आहार विहार शयन और चेष्टा आदि लक्षणवाला होनेसे यह यथायोग्य व्यवहारका वाचक है ।

आत्मा

'आत्मा' शब्दका प्रयोग ग्यारह ११ अर्थोंमें हुआ है ।

(१) *परमात्मा*–अ० ३ । १७–ज्ञानीकी उसीमें प्रीति, उसीमें तृप्ति और उसीमें सन्तुष्टि होनेके कारण परमात्माका वाचक है ।

(२) *ईश्वर*–अ० १० । २०–सब भूतोंके हृदयमें स्थित होनेसे ईश्वरका वाचक है ।

(३) *शुद्धचेतन*–अ० १३ । २९–अकर्ता होनेसे शुद्ध चेतनका वाचक है ।

(४) *परमेश्वरका स्वरूप*–अ० ७ । १८–ज्ञानीको अपना आत्मा बतलानेके कारण वह स्वरूप ही समझा जाता है । इससे स्वरूपका वाचक है ।

(५) *परमेश्वरका साकारस्वरूप*–अ० ४ । ७–अवताररूपसे प्रकट होनेका उल्लेख रहनेसे सगुण स्वरूपका वाचक है ।

(६) *जीवात्मा*–अ० १६ । २१–अधोगतिमें जानेका वर्णन होनेसे जीवात्माका वाचक है ।

(७) *बुद्धि*—अ० १३ । २४ (आत्मना) ध्यानके द्वारा हृदयमें परमात्माको देखनेका वर्णन है, यह देखना बुद्धिसे ही होता है । अतः यह बुद्धिका वाचक है ।

(८) *अन्तःकरण*—अ० १८ । ५१—इसमें *'आत्मानम् नियम्य'* यानी आत्माको वशमें करनेका उल्लेख होनेसे यह अन्तः-करणका वाचक है ।

(९) *हृदय*—अ० १५ । ११—इसमें *'यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्'* 'योगीजन' अपने आत्मामें स्थित हुए इस आत्माको यत्न करते हुए ही तत्त्वसे जानते हैं । आत्मा हृदयमें स्थित होता है, अतः यहाँ यह (आत्मनि) हृदयका वाचक है ।

(१०) *शरीर*—अ० ६ । ३२ *'आत्मौपम्येन'* अपनी सादृश्यतासे लक्षित होनेके कारण यहाँ आत्मा शरीरका वाचक है ।

(११) *निजवाचक*—अ० ६ । ५—आत्मा ही आत्माका मित्र और आत्मा ही आत्माका शत्रु है, ऐसा उल्लेख रहनेसे यह निज वाचक है ।

ब्रह्म

'ब्रह्म' शब्दका प्रयोग सात ७अर्थोंमें हुआ है ।

(१) *परमात्मा*—अ० ७ । २९—भगवान्‌के शरण होकर

जरा-मरणसे छूटनेके लिये यत्न करनेवाले ब्रह्मको जानते हैं, ऐसा कथन होनेसे यहाँ परमात्माका वाचक है।

(२) ईश्वर—अ० ५।१०—सब कर्म ब्रह्ममें अर्पण करनेका उल्लेख होनेसे यह ईश्वरका वाचक है।

(३) *प्रकृति*—अ० १४।४—महत् विशेषण होनेसे प्रकृतिका वाचक है।

(४) *ब्रह्मा*—अ० ८।१७—कालकी अवधिवाला होनेसे यहाँ 'ब्रह्म' शब्द ब्रह्माका वाचक है।

(५) *ओंकार*—अ० ८।१३ 'एकाक्षर' विशेषण होने और उच्चारण किये जानेवाला होनेसे ओंकारका वाचक है।

(६) वेद—अ० ३।१५ (पूर्वार्ध) कर्मकी उत्पत्तिका कारण होनेसे वेदका वाचक है।

(७) *परमधाम*—अ० ८।२४—शुक्ल-मार्गसे प्राप्त होनेवाला होनेसे परम धामका वाचक है।

अव्यक्त

'अव्यक्त' शब्दका प्रयोग तीन ३ अर्थोंमें हुआ है।

(१) *परमात्मा*—अ० १२।१—अक्षर विशेषण होनेसे परमात्माका वाचक है।

(२) *शुद्धचेतन*–अ० २।२५ स्पष्ट है।

(३) *प्रकृति*–अ० १३।५ स्पष्ट है।

अक्षर

'अक्षर' शब्दका प्रयोग चार ४ अर्थोमें हुआ है।

(१) *परमात्मा*–अ० ८।३–ब्रह्मका विशेषण होनेसे परमात्माका वाचक है।

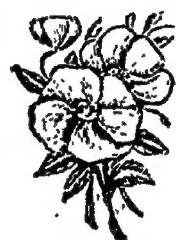
(२) *जीवात्मा*–अ० १५।१६–कूटस्थ विशेषण होने और अगले श्लोकमें उत्तम पुरुष परमात्माका अन्य रूपसे उल्लेख होनेसे यह जीवात्माका वाचक है।

(३) *ओंकार*–अ० ८।११ स्पष्ट है।

(४) *वर्ण*–अ० १०।३३ स्पष्ट है।



❀ हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् हरिः ॐ तत्सत् ❀




प्रकाशक तथा मुद्रक
घनश्यामदास
गीताप्रेस, गोरखपुर

गीता कैसे पढ़नी चाहिये

'गीता समझनेका एकमात्र उपाय उसे पढ़ना और बार-बार पढ़ते रहना, हृदयङ्गम करना और मनमें धारण करना है, जिससे कि वह स्मृति-पटलपर अमिटरूपसे अङ्कित हो जाय। पाठकको चाहिये कि आरम्भमें ही गीताको समझने या उसके ज्ञानकी थाह पानेकी चेष्टा न करे, केवल मस्तिष्कद्वारा उसे समझनेकी चेष्टा छोड़कर अपने मनको उसके वाक्योंमें लगाये रक्खे और निरन्तर उसका ध्यान करे, उसके प्रत्येक शब्दका मनन करे, जिससे कि वह उसके अन्तःकरणमें धँस जाय। फिर धीरे-धीरे वह अन्तःकरणसे बुद्धि (मस्तिष्क) में पहुँचकर पाठकको पकड़ लेगी और उसके विचारोंमें ओतप्रोत होकर उसके आचरणको बदल देगी। इससे शीघ्र ही उसके विचार तथा कर्म स्वयमेव ही गीताके अनुसार होने लगेंगे। —हाल्डेन एडवर्ड सैम्पसन


प्रकाशक तथा मुद्रक
घनश्यामदास
गीताप्रेस, गोरखपुर